जैनधर्म में ईश्वर विषयक मान्यता का अनुचिन्तन

डा० कृपाशंकर व्यास

मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में मनोभावों की प्रधान भूमिका होती है जबकि सामाजिक जीवन में धार्मिक और आर्थिक व्यवहार की प्रधानता होती है। मनोभावों और व्यवहार का एकीकरण ही मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन एवं अस्तित्व को प्रतिष्ठित करता है। इसलिये मनुष्य इस एकीकरण को एक अलौकिक शक्ति में केन्द्रित कर उसपर युग-युगान्तर से चिन्तन-मनन करता आ रहा है। बोधार्थ उस शक्ति को "ईश्वर" नाम से अभिहित किया जाता है। जिसके प्रति अथर्ववेद[1] में कथन है—"वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्" उस सर्वशक्तिमान् ईश्वर का मानव-मन से अति निकट का संबंध है। यही कारण है कि प्रत्येक युग में प्रत्येक धर्म-दर्शन के मनीषियों ने इस असीम शक्तिमान् ईश्वर के संबंध में अपने विचार व्यक्त करने का उपक्रम किया है।

ईश्वर संबंधी दार्शनिक चिन्तन :—दार्शनिकों[2] के अनुसार सृष्टि में विषय और विषयी प्रायः एक संस्थान के रूप में संयुक्त होने से पृथक् नहीं हैं। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से अथवा मानसिक प्रत्ययों से उत्पन्न सुख-दुःख रूप विषयों का अनुभवकर्त्ता जीव है। इसे दार्शनिकों ने विषयी या द्रष्टा के रूप में नित्य स्वीकारा है जबकि विषयों को परिवर्तनशील क्षणभंगुर या जड़ पदार्थों से जन्य होने के कारण कुछ दार्शनिकों[3] को छोड़कर शेष सभी ने अनित्य माना है। इसे अजीव भी कहा जाता है। जीव, अजीव कब और कैसे संयुक्त होकर सृष्टि में कारणरूपता को प्राप्त हुये—यही गहन समस्या दार्शनिकों के समक्ष आदिकाल से बनी हुई है। जिसका समाधान सभी (भारतीय तथा पाश्चात्य) मनीषियों ने यथाशक्य स्वमतानुसार किया है। यह भिन्न बात है कि अद्यतन सर्व-सम्मत हल नहीं निकल सका है।

'ईश्वर' की मान्यता को केन्द्र बिन्दु बनाकर भारतीय दर्शन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वह भाग जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है यथा–न्यायवैशेषिक, योग, एवं उत्तर मीमांसा, पूर्वमीमांसा, एवं जैन कुछ सीमा तक तथा भिन्न अर्थ में ईश्वरीय सत्ता में विश्वास करते है। द्वितीय वह भाग जो ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार नहीं करता, यथा-चार्वाक, बौद्ध तथा सांख्य (पुरुष ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं)।

---

१. अथर्ववेद—१०।८।३३

२. (अ) ईश्वरवाद बनाम पुरुषार्थवाद—डा० कृपाशंकर व्यास, जैनदिवाकर स्मृति ग्रन्थ पृ० ५०१
   (ब) भारतीय ईश्वरवाद—पं० रामावतार शर्मा पृ० १-५०
   (स) मेधा—मीमांसा और जैनदर्शन का अन्य दर्शनों से ईश्वर विषयक मतभेद–पृ० ७१-८०

३. (अ) "सद्दव्वं वा" भगवतीसूत्र ८।९
   (ब) पंचाध्यायी पूर्वार्ध श्लोक ८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'ईश्वर' और 'ईश्वरवाद' (Theism) को समझने के लिये आवश्यक है कि इन शब्दों का प्रयोग किस अर्थ में होता है–यह समझा जाये। 'ईश्वर'[१] शब्द 'ईश्' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ—स्वामी होना, आदेश देना, अधिकार में करना है। 'ईश्' धातु का विशेषण ही 'ईश्वर' है जो कि शक्ति सम्पन्नता की ओर इंगित करता है। अतः यह कहना औचित्यपूर्ण है कि जीव से परे जो भी सत्ता है वही 'ईश्वर' है। आज के समाज में 'ईश्वर' से सम्बन्धित सिद्धान्त 'ईश्वरवाद' का प्रयोग व्यापक एवं सीमित दोनों अर्थों में किया जाता है। व्यापक अर्थ में 'ईश्वरवाद' उस सिद्धान्त को कहते हैं जो ईश्वर को सत्य मानता है। इस अर्थ की परिधि में ईश्वर संबंधी सभी सिद्धान्त समाहित हैं। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने वालों में न केवल भारतीय मनीषी हैं अपितु पाश्चात्य[२] भी हैं, जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय डेकार्टे (Descartes) बर्कले (Berkeley), काण्ट (Kant), जेम्सवार्ड (James Ward), सी इ. एम जॉड (C. E. M. Joad), प्रिंगल[३] पैटिसन (Prengle Patltisan) हैं। सीमित अर्थ में – ईश्वरवाद उस सिद्धान्त को कहते हैं जो कि एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का समर्थन करता है। इस सिद्धान्त का समर्थन विशेषत; जैनधर्म तथा अन्य सगुणोपासक धर्मों ने किया है। इसी मत के पक्ष में पाश्चात्य विद्वान् फ्लिण्ट[४] (Flient) का कथन है कि "वह धर्म जिसमें एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर आराधना का विषय रहता है– ईश्वरवादी धर्म कहा जाता है। व्यक्तित्व रहित ईश्वर की अपेक्षा व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर धार्मिक भावना की संतुष्टि करने में अधिक सक्षम है। धार्मिक चेतना के लिये आवश्यक है कि उपासक और उपास्य के मध्य निकटता रहे। इस नैकटच भाव को बनाये रखने के लिये यह अनिवार्य है कि उपासक के हृदय में उपास्य के प्रति श्रद्धा, आदर, और भक्तिभाव बना रहे (जैन दर्शन एवं धर्म में सिद्धान्ततः भक्तिभाव को कोई स्थान नहीं है, किन्तु व्यावहारिक जगत् में जैन समाज तीर्थंकरों के प्रति भक्तिभाव से पूरित है)[५] और इसी प्रकार उपास्य भी उपासक के लिये करुणा, क्षमा, दया और सहानुभूतिभाव से युक्त रहे। 'ईश्वर' उपास्य है और मनुष्य उपासक।

ईश्वरवाद वस्तुतः व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की स्थापना करके उपासक मनुष्य का उससे निकट का संबंध स्थापित करता है। ईश्वर में यदि व्यक्तित्व का अभाव हो तो वह अपने उपासक के प्रति किसी भी प्रकार से अपने कारुणिक भाव को प्रकट नहीं कर सकता है।

---

१. (अ) संस्कृत हिन्दी कोश–वा० व० आप्टे पृ० १७९-१८०
(ब) वाचस्पत्यम्–द्वितीय भाग पृ० १०११-१०४८

२. ईश्वरवादी सिद्धान्त के प्रतिपादकों में–स्पिनोजा, जॉन कॉल्विन, जॉन ढोलेण्ड, तिण्डल, लाइबनिज, ब्रेडले, रायस, हॉविसन, आदि के लिए (धर्म और दर्शन) द्रष्टव्य–ईश्वर संबंधी मत, डा० रामनारायण व्यास, पृ० ९४-१३२
(ब) भारतीय ईश्वरवाद—पं० शर्मा

३. The Idea of God in Recent Philosophy.

४. Theistic religion is a religion in which the one personal and perfect God is the objective of worship—Flient p. 50 (Theism).

५. भारतीय दर्शन भाग १ पृ० ३०३–डॉ० राधाकृष्णन्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार स्पष्ट है कि ईश्वरवाद व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की स्थापना करके मानव-मानस की धार्मिक-संतुष्टि करता है। यहाँ यह कहना असमीचीन न होगा कि सभी ईश्वरवादा मनीषियों ने ईश्वर शब्द का प्रयोग किया अवश्य है पर उनमें मतैक्य नहीं, अर्थ भिन्नता है।

इस सन्दर्भ में भारतीय दार्शनिक उदयनाचार्य[1] का कथन विशेष औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है कि ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह करना ही व्यर्थ है, क्योंकि कौन ऐसा मनुष्य है जो किसी न किसी रूप में 'ईश्वर' को न मानता हो – यथा उपनिषदों के अनुयायी 'ईश्वर' को शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव के रूप में; कपिल अनुयायी 'आदि विद्वान् सिद्ध' के रूप में; पतंजलि अनुयायी क्लेश-कर्म विपाक, एवं आशय (संस्कार) से रहित रूप में; पाशुपत सिद्धान्तानुयायी 'निर्लेप तथा स्वतंत्र रूप में; शैव 'शिव' रूप में; वैष्णव 'विष्णु' रूप में; पौराणिक 'पितामह' रूप में, याज्ञिक "यज्ञपुरुष' रूप में; सौगत 'सर्वज्ञ' रूप में; दिगम्बर 'निरावरण मूर्ति" रूप में; मीमांसक 'उपास्य देव' के रूप में; नैयायिक और वैशेषिक 'सर्वगुणसम्पन्न परम ज्ञानी चेतन' के रूप में; चार्वाक 'लोकव्यवहार; सिद्ध' के रूप में–जिसका चिन्तन, मनन व पूजन करते हैं वही तो 'ईश्वर' है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी चिन्तकों ने 'ईश्वर' संबंधी अपनी भावना को यथाशक्य मूर्त रूप देने का प्रयास किया है यद्यपि 'ईश्वर' के स्वरूप के संबंध में उनके विचारों में पर्याप्त भिन्नता है।

जगत् में जीव-अजीव के संयुक्त होने में न्याय-वैशेषिकादि[2] दर्शनों ने ईश्वर, प्रकृति-पुरुष-संयोग, काल, स्वभाव, यदृच्छा आदि को कारण माना है। इन दर्शनों के अनुसार जीव को शुभाशुभ कर्मफल की प्राप्ति ईश्वरादि के द्वारा होती है। इससे विपरीत मत जैन दार्शनिकों का है। उनके अनुसार जीव कर्म करने में स्वतंत्र है और फल भोगने में कर्मतंत्र है। हाँ यह अवश्य है कि जैन दार्शनिकों ने इसके साथ ही साथ काल, स्वभाव, और कर्म को भी सृष्टि में कारण स्वरूप माना है तथा यदृच्छावाद का पुरजोर खंडन किया है।[3]

यदृच्छावाद का खंडन :—ईश्वर में "कर्तुमकर्तुमन्यथा[4] कर्तुम् समर्थः" शक्ति मानने से ईश्वर किसी को सुखी और किसी को दुःखी बना सकता है। इससे ईश्वर की स्वैरवृत्ति और

---

१. (अ) न्याय कुसुमाञ्जलि—१-१
(ब) भारतीय दर्शन–उमेश मिश्र पृ० २२४
(स) भारतीय ईश्वरवाद–पं० शर्मा

२. (अ) प्रशस्तपादभाष्य (सृष्टिसंहारप्रकरण)
(ब) सांख्य कारिका–२१
(स) न्यायसूत्रभाष्य—४/१।२१
(द) गीता—५।१४

३. "आसवदि जण कम्मं परिणामेणप्पणो स निण्णेयो ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मा सवणं परो होदि" ।। (द्रव्य सं० २९)

४. (अ) षड्दर्शन समुच्चय–(तर्क रहस्य टीका सहित) पृ० १८२-१८६
(ब) मेधा···पृ० ७२ (मी० जै० दर्श ··ईश्वर विषयक मतभेद)

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

स्वतंत्रता ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार यदृच्छावाद के कारण निमित्त के बिना भी कार्य की प्राप्ति होने लगेगी, परिणामस्वरूप 'कारण कार्यवाद' सिद्धान्त पर प्रश्नचिह्न लग जायेगा तथा सर्वत्र अव्यवस्था हो जायेगी। कोई भी कार्य नियमानुसार न होगा। जबकि दृश्य जगत् में सभी कार्य नियमानुसार ही दिखलायी देते हैं—यथा अग्नि का उष्ण होना, आम के वृक्ष से आम की प्राप्ति आदि। अतः सृष्टि में कारणभूत माने गये यदृच्छावाद और ईश्वर को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जैन दर्शन द्वारा ईश्वर के स्रष्टा-रूप का खंडन :—न्यायादि[1] दर्शनों के पुरस्कर्त्ता घटादि कार्यों के कर्त्ता रूप में जिस प्रकार कुम्भकार आदि को स्वीकारते हैं उसी प्रकार जगत् रूप कार्य को देखकर उसके कर्त्ता रूप में ईश्वर को भी स्वीकारते हैं। जगत् रूपी कार्य जड़ परमाणुओं को गतिशील बनाये बिना संभव नहीं है। इसके लिये ईश्वर की इच्छा तथा प्रेरणा आवश्यक है। जड़ परमाणुओं में गतिशीलता होने पर ही सृष्टि संभव है और गतिशीलता के लिये ईश्वर का कारण होना अनिवार्य है। जैन दर्शन जगत् को किसी का कार्य नहीं मानता है। उसके मतानुसार अजीव तत्त्व जगत् भी जीव के समान ही नित्य है। नैयायिकों के इस कथन से कि पृथ्वी आदि के अवयवभूत परमाणु जगत् के समवायी कारण हैं, अतः पृथिव्यादि के सावयव होने के कारण कार्यत्व की सिद्धि हो जाती है। इस मत से जैन आचार्य सहमत नहीं हैं। उन्होंने अनेक विकल्पों तथा तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी आदि कार्य नहीं हैं। अतः इनके कर्त्ता के रूप में 'ईश्वर' की सिद्धि संभव नहीं है। जैन दार्शनिकों का मत है कि यदि कर्त्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार कर भी लिया जाये तो पुनः प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कर्त्ता एक है या अनेक। यदि कर्त्ता एक माना जाये तो यह मान्यता अनुचित है, कारण कि विचित्र जगत् के निर्माण में महल आदि के निर्माण के समान अनेक कर्त्ताओं की आवश्यकता होगी। एक कर्त्ता के द्वारा विचित्र विश्व का निर्माण संभव नहीं है। यदि ईश्वरवादी जगत् सृष्टि के लिये अनेक कर्त्ताओं को स्वीकार करते हैं तो उनमें परस्पर मतभेद की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। एक वस्तु के भिन्न-भिन्न रूप हो जायेंगे फलतः सर्वत्र अव्यवस्था हो जायेगी।

इस प्रकार जैन दर्शन जीव और अजीव के संयोग से होने वाली सृष्टि में ईश्वर की कारण रूपता का खंडन करके जीवों के कर्मों को ही सृष्टि में साधकतम कारण मानता है। जैन दर्शन उस मान्यता को भी निराधार एवं काल्पनिक सिद्ध करता है जिसके अनुसार जड़ और चेतन का संबंध कर्मानुसारी नहीं होता।

जैन दर्शन में फल प्रदाता ईश्वर का खण्डन:—कतिपय[2] चिन्तकों के मतानुसार ईश्वर फल प्रदाता है। कर्म चूंकि जड़ हैं अतः कर्म चेतना की प्रेरणा के बिना कथमपि फल देने

---

१. (अ) सर्वदर्शन संग्रह–(आर्हत दर्शन)

(ब) षड्दर्शन समुच्चय–पृ० १६६-१८७

२. षड्दर्शन समुच्चय पृ० १८२-१८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में समर्थ नहीं हैं। सभी प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों का फल सुखद ही चाहते हैं। अतः वे स्वयं अपने कर्मों के सुख दुःखात्मक फलों को निष्पक्षता से ग्रहण नहीं करेंगे। इस कारण से भी फल प्रदाता के रूप में निष्पक्ष ईश्वर की अपेक्षा की जाती है। इस मान्यता के संबंध में पूर्व में ही कथन कर दिया गया है कि कर्म की उत्पत्ति चैतन्य के द्वारा ही होती है। अतः जीव के संबंध के कारण ही कर्म में ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जिससे कर्म अपने सुखद व दुःखद विपाकों को यथासमय जीव के प्रति प्रकट कर देता है। कर्मवाद पर आस्था रखने वाले कर्म को पूर्णतया जड़ नहीं मानते। कारण कि जीव (चैतन्य) की क्रिया के द्वारा उत्पन्न कर्म (संस्कार), क्रिया के समाप्त हो जाने पर भी जीवाश्रित बने रहते हैं। ये संस्कार चूंकि द्रव्य से उत्पन्न होते हैं अतः इन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं तथापि वे जीवाश्रित शक्ति रूप होने से जीव द्वारा अवश्यमेव भोक्तव्य हैं। विशिष्ट ज्ञानयुक्त जीव निष्पक्ष होकर स्वकृत कर्मों को निर्लिप्त भाव से भोगता है जबकि सामान्य ज्ञानयुक्त जीव तत्काल सुखद-परिणामतः और दुःखद बाह्य पदार्थों के भोगानुभव को एकत्रित करते हैं फलतः उसके अनुरूप ही उसकी बुद्धि हो जाती है। इस बुद्धि के द्वारा इच्छा न रहते हुये भी जीव को स्वकृत कर्मों का अशुभ फल भोगना ही पड़ता है।

सर्वदर्शन[1] संग्रह में वीतराग स्तुति में प्रयुक्त 'स्ववशः' विशेषण यदि ईश्वर का माना जाये तो ईश्वर अपनी कारुणिकता के कारण सभी प्राणियों को सुखी बनायेगा, दुःखी नहीं। ईश्वर यदि प्राणियों के कृतकर्मों से प्रेरित हो प्राणियों को सुखी या दुःखी बनाता है तो ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति एवं स्वतंत्रता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। कर्म की अपेक्षा रखने पर ईश्वर का सर्वेश्वरत्व सिद्ध नहीं होता है कारण कि कर्मों को ईश्वर नियंत्रित नहीं कर पायेगा। जीव स्वयं के कर्मों के अनुरूप ही सृष्टि करने एवं तदनुरूप फल भोगने में स्वतंत्र है।

जीव और कर्मों का संबंध :—उपर्युक्तविवेचन से स्पष्ट है कि इस सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर नहीं है। इस जगत् की सृष्टि में यदृच्छा, माया, भ्रम, प्रकृति आदि भी कारण नहीं हैं।[2] जीव ही इस सृष्टि का कर्त्ता एवं स्वकृत कर्मों के फल का भोक्ता है। जीव और कर्मों का संबंध अनादि है। कर्मों के कारण ही सकषाय जीव सृष्टि का कारण बनाता है। कर्मों के निरोध के फलस्वरूप कर्मों का अभाव होने पर जीव मुक्त हो जाता है, फिर भी यह सृष्टि अन्यों (जीवों) के बनी रहती है।

जैन दर्शन और ईश्वर :—कालान्तर[3] में वैदिक साहित्य द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड सामान्य वर्ग के लिये सहज गम्य एवं प्राप्य न रहा और परिणामतः ६ठीं ईसापूर्व में इस अबोधगम्यता की प्रतिक्रिया स्वरूप वैचारिक परिवर्तन आया। इस परिवर्तन की विशेषता यह थी कि जीवन के रहस्य को जानने के लिये किसी ज्ञान विशेष की आवश्यकता पर बल नहीं

---

१. कर्त्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः, स सर्वज्ञः स स्ववशः स नित्यः। (सर्वदर्शन संग्रह-आर्हत दर्शन)

२. (अ) श्लोक वा० सम्बन्धा १०९-११४

(ब) तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थ) ९।७

(स) तत्त्वार्थसूत्र—८।३, ८।२

३ (अ) संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर पृ० ८१-९५, १००-१२१

(ब) भारतीन ईश्वरवाद—पं० शर्मा २८४-३२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया गया था, अपितु यह माना गया कि मनुष्य अपने आचार, शील व शुद्धता के माध्यम से ही जीवन के चरमसत्य को सहज में पा सकता था। इस सरल बुद्धिगम्य मार्ग को सामान्य जन-मानस तक प्रेषित करने के लिये तत्कालीन जन-भाषा (लोक-भाषा) को ही माध्यम बनाया गया। फलतः इस परिवर्तन का जन-मानस ने स्वागत किया। इसी परिस्थिति का तीर्थंकर महावीर ने यथाशक्य लाभ लेने का प्रयास किया और सफल भी हुये।

महावीर ने समयानुरूप निष्काम शुद्धाचरण की शिक्षा का प्रतिपादन किया। उनकी मान्यता थी कि निष्काम शुद्धाचरण से व्यक्ति वीतराग रूपी ईश्वरपद को प्राप्त कर सकता है। उन्होंने अपने युग में मानव को ईश्वरत्व की कोटि तक पहुँचाने का महनीय कार्य किया। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। उनके इसी महत्तर कार्य के कारण ही उन्हें जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर जैनधर्म के प्रस्तोता रूप में समादृत स्थान दिया गया है।

कालान्तर[1] में (७वीं शती में) जैन राजा कून के शैवमत में दीक्षित हो जाने के फलस्वरूप महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मदर्शन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वैष्णव व शैवमतों से वैचारिक भिन्नता के कारण भी जैनधर्म दर्शन की स्थिति सुखद नहीं रही। इस कारण स्थिति को यथावत् सुदृढ़ करने के लिये आवश्यक हो गया था कि मान्यताओं में समयानुरूप परिवर्त्तन किया जाये ताकि जन-मानस पुनः धर्म की ओर आकर्षित हो सके। यही कारण है कि महावीर द्वारा प्रतिपादित 'ईश्वर' संबंधी सिद्धान्त को वैष्णव व शैव के अनुरूप ही स्वीकृति दी गई। परिवर्तन की अपेक्षा से ही तीर्थङ्करों को जिनेन्द्र ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया तथा अन्य धर्मों के समान ही इन तीर्थङ्करों के प्रति अपनी भक्तिपूर्ण आदराञ्जली भी देने की स्वतंत्रता दे दी गई। भक्त अपने जिनेन्द्र की देवरूप में अर्चना करने लगे। ये जिनेन्द्र ही सर्वज्ञ रूप में निरूपित किये गये। कालान्तर में इसी भक्तिपूर्ण भावना की दार्शनिक पुष्टि कर दी गई। यह अवश्य है कि जैन धर्म-दर्शन का ईश्वर मनुष्य से भिन्न नहीं है— केवल आवश्यकता इस बात की है कि वह केवल-ज्ञान व दर्शन प्राप्त करे तभी वह मानवत्व से देवत्व की कोटि तक पहुँच सकता है। वस्तुतः[2] मानव के पुरुषार्थ की इति ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। इस ईश्वरत्व की अवस्था में मानव परमात्मभाव को प्राप्त हो जाता है। मनुष्य को कुछ भी अप्राप्तव्य नहीं है। मात्र यही अपेक्षा है कि ज्ञानार्जन कर कर्म बन्धन को निःशेष करने हेतु प्रयासशील हों। यह प्रयास[3] ही व्यक्ति को मानवीय चेतना के चरमविकास ईश्वरत्व तक पहुँचा सकता है। कथन भी :—

"ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः"

---

१. भारतीय ईश्वरवाद—पं० शर्मा पृ० २८४-३३३

२. उत्तराध्ययन २५।४५

३. (अ) चिन्तन की मनोभूमि—(ईश्वरत्व) पृ० ३३,
   (ब) "णाणं णरस्स सारो" दर्शन पाहुड ३३ कुन्दकुन्दाचार्य पृ० ५०-५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी ज्ञानरूपी पुरुषार्थ से मानव विश्व में सर्वोपरि एवं वन्दनीय बन सकता है। मानव ईश्वर की सृष्टि नहीं है बल्कि ईश्वर ही मानव की सृष्टि है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी चरम सोपान ईश्वर पद पर पहुँच सकता है। यही है जैन दर्शन का ईश्वर दर्शन।

किसी कवि ने उचित ही कहा है—

"बीज बीज ही नहीं, बीज में तरुवर भी है।
मनुज मनुज ही नहीं, मनुज में ईश्वर भी है।"

(चिन्तन की मनोभूमि पृ० ५०)

डॉ० कृपाशंकर व्यास
८ A महाकाल सिंधीकालोनी, सांवेर रोड़
उज्जैन—४५६०१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org